भारत में विज्ञानः नए साल की उम्मीदें

पी. बालाराम

नव वर्ष पर हम आशावादी उल्लास से भर उठते हैं। यहां तक कि निराशावादी भी एक सुनहरे भविष्य की ओर देखने लगते हैं। भारत में वैज्ञानिकों की बात करें तो नए साल की शुरुआत 3 जनवरी को विज्ञान कॉन्ग्रेस के उद्घाटन से होती है। इसमें प्रधानमंत्री वैज्ञानिकों को संबोधित करते हैं। इस कड़ी में इस साल 99वीं विज्ञान कॉन्ग्रेस थी। निस्संदेह अगले साल की कॉन्ग्रेस बेहद विशिष्ट होगी, जब वह 100वें साल में प्रवेश करेगी। वह शताब्दी कॉन्ग्रेस होगी।

हाल के वर्षों में देखा गया है कि विज्ञान कॉन्ग्रेस में तामझाम ज़्यादा होता है, विज्ञान की बातें कम। आम लोगों के हितों को लेकर भी चर्चा अब उतनी नहीं होतीं। यहां तक कि वैज्ञानिक भी कॉन्ग्रेस में होने वाली बैठकों में भाग लेने को लेकर उत्साहित नहीं रहते। ऐसी बैठकें तो काफी पहले से ही अपनी प्रासंगिकता खो चुकी हैं।

हर साल की तरह प्रधान मंत्री का इस साल का भाषण भी विज्ञान के बेहतर भविष्य का वादा कर रहा था। विज्ञान के क्षेत्र में निवेश में लगातार बढ़ोतरी होती आई है और इसमें और भी वृद्धि होने की उम्मीद की जा सकती है। सकल घरेलू उत्पाद में विज्ञान की वर्तमान हिस्सेदारी 0.9 फीसदी है। इसके अगले पांच सालों में बढ़कर दुगना होने का अनुमान लगाया गया है। लेकिन दुर्भाग्य से वादे और अनुमान कई बार ज़मीन पर साकार नहीं हो पाते। यहां तक कि अच्छे मकसद भी नौकरशाही में फंसकर धराशायी हो जाते हैं।

भारत में वैज्ञानिक लंबे अर्से से नौकरशाही की जकड़न की शिकायत करते आए हैं। पूर्ववर्ती कई प्रधान मंत्रियों ने विज्ञान को नौकरशाही से मुक्त करने का वादा किया था। यह ऐसा वादा था जिसका पूरा होना लगभग असंभव था। प्रधान मंत्री के इस साल के भाषण में ऐसे वादों से परहेज़ किया गया। इसकी बजाय चुपचाप यह स्वीकार कर लिया गया कि क्रांतिकारी सुधारों की कोशिश करने में अपनी ताकत ज़ाया करने की बजाय यथास्थिति वाले तंत्र में काम करना संभवतः अधिक आसान है।

वैज्ञानिक अनुसंधान के क्षेत्र में पर्याप्त निवेश के वादे से निस्संदेह शोधकर्ता काफी प्रसन्न होंगे। अब देखने वाली बात यह होगी कि एजेंसियां और संस्थान कितनी जल्दी और फुर्ती से फंडिंग का बेहतर इस्तेमाल और परियोजनाओं का क्रियान्वयन सुनिश्चित कर पाते हैं। सुधार और बदलाव की प्रक्रिया की राह में धीमा क्रियान्वयन अक्सर रोड़ा बन जाता है। साइंस एंड इंजीनियरिंग रिसर्च बोर्ड (एसईआरबी) इसका एक बड़ा उदाहरण है। एसईआरबी की स्थापना की घोषणा वर्ष 2005 में की गई थी। उसका गठन अब 2012 में होने जा रहा है। अक्सर देखा गया है कि जब भी यथास्थिति में बदलाव की कवायद होती है, वहां कार्यों को अधिक से अधिक समय तक लंबित रखने के प्रयास शुरू हो जाते हैं।

हमेशा की तरह चीन का हौवा विज्ञान कॉन्ग्रेस में भी हावी रहा। मुख्यधारा का मीडिया अधिक से अधिक पीएच.डी., प्रकाशन, फंडिंग, संस्थानों और दरअसल, उन सारी चीज़ों की ही बात करता है जिन्हें समझना आसान है। लगता है विज्ञान को ऐसा खेल मान लिया गया है, जहां अपने विरोधी या प्रतिद्वंद्वी को पटकनी देना ही एकमात्र मकसद रह गया है। अगर 'विज्ञानमापन' के आंकड़ों को भारत में विज्ञान की सेहत के आकलन का पैमाना मान लिया जाए तो तेज़ी से बढ़ती अर्थव्यवस्थाओं में हमारा देश अपने प्रतिद्वंद्वियों से काफी कमज़ोर नज़र आएगा। *एल्सेवियर* नामक पत्रिका की हाल की रिपोर्ट में आंकड़ों का बहुत ही कल्पनाशीलता के साथ विश्लेषण किया गया है। इस रिपोर्ट के ज़रिए नीतिकारों को परामर्श दिया गया है। विज्ञान की नीति के लिए इस तरह से आंकड़ों के आधार की उपलब्धता निश्चित तौर पर अर्थशास्त्रियों और योजनाकारों को रास आएगी। विज्ञान के मेरे जैसे पुरातनपंथी प्रेक्षक भविष्य की उस झलक को

देखकर परेशान हो सकते हैं, जब नीति-निर्माता विज्ञान की अनिश्चितताओं और उसके स्वाभाविक मूल्यों से बेखबर केवल विज्ञान के आधुनिक मानदंडों के आधार पर निर्णय लेने लगेंगे।

एल्सेवियर की इस रिपोर्ट को ध्यान से पढ़ने की ज़रूरत है। उसमें बहुत उपयोगी और दिलचस्प सूचनाएं हैं। मीडिया का ध्यान मात्र उन आंकड़ों ने खींचा है जिनमें भारत और चीन की तुलना की गई है। कुल प्रकाशित शोध पत्रों में चीन (9,69,315) अमरीका (20,95,934) के बाद दूसरे स्थान पर है। इस सूची में भारत (2,33,027) दसवें स्थान पर है। प्रकाशनों की वृद्धि दर के आधार पर देखें तो यहां भी चीन 22.8 फीसदी के साथ भारत (14.2 फीसदी) से कहीं आगे है। दोनों ही देश इस मामले में विकसित देशों से आगे हैं (अमरीका 2.1 फीसदी, ब्रिटेन 3.54 फीसदी, जर्मनी 4.71 फीसदी, जापान 1.58 फीसदी)।

एक मानदंड ऐसा है, जिसमें भारत चीन को पछाड़ता नज़र आता है। यह ऐसा नंबर है जिसे कुछ विश्लेषक 'गुणवत्ता' का पैमाना मानते हैं - 'उल्लेख-प्रति-आलेख' (यानी किसी शोध पत्र का उल्लेख अन्य शोध पत्रों में कितनी बार होता है)। इसमें भारत को 2.71 अंक मिले हैं, जबकि चीन 2.21 अंकों के साथ थोड़ा-सा पीछे है। इसी आधार पर दी हिंदू अखबार ने तो दावा कर दिया कि 'भारत वैज्ञानिक शोध-पत्रों की गुणवत्ता के मामले में चीन से आगे।' अगर इसी पैमाने का इस्तेमाल करें तो स्विट्ज़रलैंड (7.6), नीदरलैंड्स (6.98) और स्वीडन (6.57) जैसे छोटे देश शीर्ष पर नज़र आते हैं। यूएस भी 6.45 अंकों के साथ ज़्यादा पीछे नहीं है।

एक और दिलचस्प पैमाना है जो विभिन्न देशों में प्रकाशित शोध पत्रों की संदर्भ सूची में शोध-पत्र के प्रकाशन की तारीख को दिखाता है। इस पैमाने पर भारत का प्रदर्शन आश्चर्यजनक रूप से घटिया है। वह केवल रूस से ही आगे है। इस मानदण्ड पर नज़दीकी नज़र रखना ज़रूरी है क्योंकि यह उन विषयों की प्रकृति को इंगित भी कर सकता है जिन पर शोध पत्र लिखे गए हैं।

एल्सेवियर की यह रिपोर्ट अंतर्राष्ट्रीय साझेदारी का भी दिलचस्प नज़ारा पेश करती है। यह ऐसा विषय है, जिस पर भारत में रणनीतिक सजगता से विचार-विमर्श करना ज़रूरी है। संस्थागत स्तर पर उद्देश्यपूर्ण शोध संपर्क बनाना काफी अहम हो सकता है। अगर संस्थानों द्वारा जमीनी स्तर पर सम्बंध नहीं बनाए जाते हैं तो सरकारी प्रतिनिधि मंडलों द्वारा किए गए विदेश भ्रमणों का कोई लाभ नहीं मिलेगा। उद्देश्यपूर्ण साझेदारी बनाने के लिए वित्तीय संसाधन पहले से ही काफी सीमित हैं। ऐसे में नौकरशाही की अभेद्य दीवार स्थिति को और भी गंभीर बना सकती है। वैज्ञानिक आउटपुट की मात्रा और गुणवत्ता को बढ़ाने में देश के भीतर और बाहर साझेदारियां महत्त्वपूर्ण नज़र आती हैं। अनुसंधान सम्बंधी गतिविधियों की स्थिति को मापने में क्या शोध पत्र और उल्लेख सबसे अहम मापदंड हैं या फिर हम उन्हीं मापदंडों को माप रहे हैं जिन्हें नापना सबसे आसान है? क्या उन क्षेत्रों में निवेश करना बहुत महत्त्वपूर्ण होगा जहां ढेरों शोध-पत्र तैयार किए जा रहे हैं? या फिर अकादमिक मानदंडों को शिथिल कर पीएच.डी. की संख्या में बढ़ोतरी करने से भारत में विज्ञान का कोई भला हो सकेगा?

इसी तरह के कई सवाल तब उठते हैं जब विज्ञान की नीति के पाले में ढेर सारे आंकड़े उड़ेल दिए जाते हैं। एल्सेवियर की रिपोर्ट शुरुआत निवेश के आंकड़ों से करती है - 'अनुसंधान कार्यों पर भारत अपने जीडीपी का एक फीसदी खर्च करता है, जबकि अमरीका और जापान 3.4 फीसदी खर्च करते हैं।' अकादमिक विज्ञान बिरादरी को यह तथ्य और भी चिंता में डाल देता है कि भारत में शोध एवं विकास कार्यों में उच्च शिक्षा संस्थानों का योगदान मात्र 4 फीसदी है। इसकी तुलना में चीन में उच्च शिक्षा संस्थानों का योगदान 10 फीसदी, जापान में 14 फीसदी, अमरीका में 17 फीसदी और कनाडा में 35 फीसदी है। यह आंकड़ा भारत की प्राथमिकताओं को प्रतिबिंबित करता है, जहां ज़्यादा ज़ोर परमाणु ऊर्जा, अंतरिक्ष और रक्षा जैसे सामरिक क्षेत्रों में शोध एवं विकास कार्यों पर है। दुर्भाग्य की बात यह है कि बिजली, पर्यावरण और आधारभूत ढांचे में अनुसंधान कार्य पर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है, जबकि ये ऐसे मंत्रालयों के दायरे में आते हैं जिनके लिए बजट की कोई

कमी नहीं है।

अब जबकि 12वीं पंचवर्षीय योजना निकट है, यह सवाल पूछना लाज़मी है कि क्या भारत में अकादमिक संस्थाएं (मैं इसमें राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं को भी शामिल करूंगा) अचानक प्राप्त धनराशि का प्रभावी ढंग से इस्तेमाल कर सकती हैं? क्या इन संस्थानों के पास ऐसा प्रशासनिक एवं वित्तीय ढांचा है कि वे बजट में वृद्धि का लाभ उठा सकें? क्या उनके पास ऐसी आंतरिक अकादमिक प्रणाली है कि वे यह फैसला कर सकें कि धनराशि का कहां बेहतर ढंग से इस्तेमाल किया जा सकता है? क्या भारतीय अकादमिक प्रणाली का ढांचा इतना सक्षम है कि वह अचानक बदलावों का सामना कर सके?

अनुसंधान और शिक्षण दोनों पर बराबर ध्यान देने वाले पश्चिमी देशों के कुछ विश्वविद्यालय पिछले करीब 50 सालों से दुनिया भर के संस्थानों के लिए आदर्श बने हुए हैं। विगत कुछ वर्षों से संस्थानों को रैंक देने का जो चलन चला है, उसमें भी शीर्ष स्थानों पर पश्चिम के विश्वविद्यालयों का ही प्रभुत्व रहता है। हम भले ही नालंदा की सुखद स्मृतियों में जी लें, लेकिन हकीकत यह है कि इस संस्थान की अब बस गाथाएं ही शेष रह गई हैं। हमें व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते हुए हाल के अनुभवों से दुनिया में जहां से भी सीखने को मिले, सीखना चाहिए।

एक प्रमुख भौतिक रसायनविद, विज्ञान शिक्षा के प्रबल समर्थक और कई बार भारत आ चुके रिचर्ड ज़ैर भारत में विज्ञान के प्रति अपने नज़रिए को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं, 'शोध पत्रों की गुणवत्ता की बजाय सारा ज़ोर संख्या पर है।' निश्चित तौर पर उनकी इस राय से कई भारतीय वैज्ञानिक भी सहमत होंगे। ज़ैर ने स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी में अपने विभाग के युवा फैकल्टी के लिए तीन मानदंड तय कर रखे हैं। अगर उन्हें अपना कार्यकाल पूरा करना है तो इन मानदंडों पर खरा उतरना ही होगा - पहला, उन्हें अच्छा नागरिक होना चाहिए। दूसरा, उन्हें अच्छा शिक्षक होना चाहिए। वहां अच्छे शिक्षक सबसे वांछनीय होते हैं, लेकिन ज़ैर का मानना है कि अगर कोई अच्छा शिक्षक बनना चाहता है तो वह ऐसा कर सकता है। तीसरा, निस्संदेह उन्हें अच्छा शोधकर्ता होना चाहिए।

भारतीय और अमरीकी अकादमिक व्यवस्थाओं में कुछेक अपवादों को छोड़कर ज़मीन-आसमान का अंतर है। भारत में फैकल्टी की भर्ती स्थाई तौर पर की जाती है। शुरुआती नियुक्ति संविदा पर होने पर भी संविदा का नवीनीकरण अपने आप होता जाता है। अकादमिक प्रदर्शन की कभी कोई मांग नहीं की जाती। अकादमिक स्वतंत्रता अक्सर काम नहीं करने का लाइसेंस बन जाती है। अच्छे संस्थान तो फैकल्टी नियुक्त करते समय कुछ सतर्कता बरतते हैं, लेकिन अधिकांश संस्थान इस मामले में कई दबावों में काम करते हैं। राज्य और केंद्र के संस्थानों में भी काफी अंतर होता है। राज्यों के संस्थानों में राजनीतिक दबाव कुछ ज़्यादा ही होता है। हालांकि अनेक बाध्यताओं और अवांछित दबावों के बावजूद भारत में शोध कार्यों में संख्यात्मक और गुणात्मक दोनों तरह से औसतन बढ़ोतरी हो रही है।

पश्चिम के देशों में अकादमिक कार्य निष्पादन में प्रोत्साहन और दंड दोनों का प्रभावी ढंग से इस्तेमाल किया गया है, लेकिन भारत के अधिकांश संस्थानों में इनमें से किसी का भी सहारा नहीं लिया जाता। प्रशासकों को चाहिए कि वे भले ही संस्थानों में पैठ जमाए नाकारा लोगों के प्रति आंखें मूंदे रखें, लेकिन अच्छा प्रदर्शन करने वालों के प्रति बेहतर रवैया रखना होगा। ऐसे माहौल में जबकि फैकल्टी के प्रदर्शन का आकलन करने में संस्थानों की बहुत कम भूमिका है, अनेकानेक राष्ट्रीय पुरस्कारों की योजनाओं के माध्यम से उन्हें प्रोत्साहित करने के प्रयासों का कोई व्यापक असर होगा, ऐसा लगता नहीं। हम केवल उम्मीद कर सकते हैं कि नए साल में और आने वाले समय में हमारे संस्थानों में और अधिक अच्छे नागरिक, अच्छे शिक्षक और अच्छे अनुसंधानकर्ता जुड़ सकेंगे। ***(स्रोत फीचर्स)***